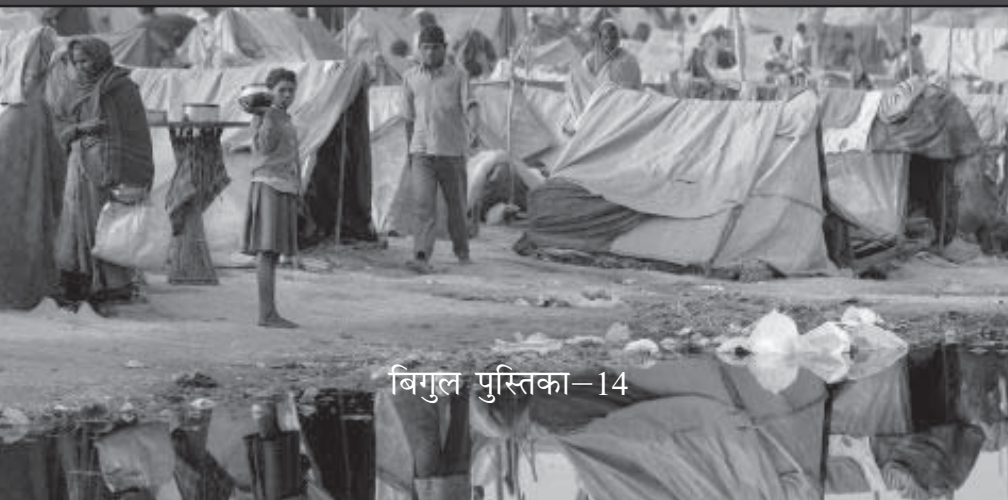


बोलते आँकड़े चीखती सच्चाइयाँ

नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष
भारत की तरक्की के दावों के
ढोल की पोल
समृद्धि के तलघर में
नर्क का अँधेरा



मूल्य : रू. 3.00

प्रथम संस्करण : दिसम्बर, 2008

प्रकाशक : **राहुल फ़ाउण्डेशन**

69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज,
लखनऊ-226 006 द्वारा प्रकाशित

आवरण : **रामबाबू**

टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रक : क्रिएटिव प्रिण्टर्स, 628/एस-28, शक्तिनगर, लखनऊ

**Bolte Aankde Cheekhtee Sachchaiyan: Navudaarvaadi
Arthneeti ke 18 Varsh: Bharat ki Taraqqi ke Davon ke Dhol ki Pol:
Samriddhi ke Talghar me Nark ka Andhera**

नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष भारत की तरक्की के दावों की ढोल की पोल : समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा

18 वर्ष पहले नरसिंह राव की सरकार ने जब उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों की शुरुआत की थी तो आज के प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह तब वित्तमन्त्री थे। उन्होंने तब 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' की पिपिहिरी बजाते हुए दावा किया था कि जब समाज के शिखरों पर समृद्धि आयेगी तो वह रिसकर नीचे तक पहुँच जायेगी। तबसे 18 वर्ष बीत चुके हैं। सच्चाइयाँ जो सामने हैं वे मनमोहन सिंह के दावे के एकदम विपरीत हैं। आइये, उन पर एक निगाह डालें।

पहले से ही जारी धनी-गरीब के बीच की ध्रुवीकरण की प्रक्रिया, आम मेहनतकशों के कंगालीकरण की प्रक्रिया विगत 18 वर्षों में और अधिक तेज़ हो गयी है।

— 'केपजेमिनी' और 'मेरिल लिंच' द्वारा तैयार की गयी 'एशिया-प्रशान्त सम्पदा रिपोर्ट' के अनुसार, विगत कुछ वर्षों के दौरान भारत करोड़पतियों की संख्या में वृद्धि दर की दृष्टि से पूरी दुनिया में वियतनाम के बाद दूसरे स्थान पर रहा है। दिसम्बर 2007 में भारत में 1 लाख 23 हजार करोड़पति थे, जो एक वर्ष पूर्व के मुक़ाबले 23 प्रतिशत अधिक था। करोड़पति वृद्धिदर के मामले में तीसरे स्थान पर चीन आता है। ज्ञातव्य है कि बाज़ार समाजवाद के नाम पर चीन और वियतनाम में भी नवउदारवाद का घटाटोप छ़ाया है, जिसके चलते वहाँ भी सामाजिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तेज़ गति से जारी है।

— 'फ़ोर्ब्स' पत्रिका द्वारा जारी सूची के अनुसार, वर्ष 2006 में दुनिया के 946 अरबपतियों में 36 भारतीय शामिल थे। 2005 में दुनिया में 768 अरबपति थे। यानी एक वर्ष में विश्वस्तर पर अरबपतियों की संख्या में 26 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि भारतीय अरबपतियों की संख्या में 64

प्रतिशत की वृद्धि हुई। देश के दस सर्वोच्च खरबपति हर मिनट दो करोड़ रुपये बनाते हैं। अकेले मुकेश अम्बानी हर मिनट 40 लाख रुपये बनाते हैं। दुनिया के शीर्षस्थ 5 महाधनिकों में से दो भारतीय हैं। 'फोर्ब्स' पत्रिका द्वारा तैयार दुनिया के अरबपतियों की सूची में 2004 में 9 भारतीय शामिल थे। यह संख्या 2007 तक बढ़कर 40 हो गयी। भारत से बहुत अधिक धनी देश जापान में अरबपतियों की तादाद 2007 में महज 24, फ्रांस में 14 और इटली में भी 14 थी। चीन में तेज़ आर्थिक विकास और तेज़ी से बढ़ती गैरबराबरी के बावजूद 2007 में वहाँ कुल 17 अरबपति ही थे। भारत के अरबपतियों की दौलत महज एक साल में, 2006-07 के दौरान 106 अरब डॉलर से बढ़कर 170 अरब डॉलर हो गयी। अर्थशास्त्री अमित भादुड़ी (फ़िलहाल, अगस्त-सितम्बर 2008) के अनुसार, अरबपतियों की दौलत में 60 फ़ीसदी बढ़ोत्तरी इसलिए मुमकिन हुई कि राज्य और केन्द्र सरकारों ने खनन, उद्योगीकरण और विशेष आर्थिक क्षेत्रों के लिए "सार्वजनिक उद्देश्य" के नाम पर बड़े पैमाने पर ज़मीन निजी कारपोरेशनों को सौंप दी। कारपोरेट मुनाफ़े के आँकड़े बताते हैं कि वर्ष 2000-01 के बाद से अब तक सकल घरेलू उत्पाद में हर अतिरिक्त 1 फ़ीसदी की बढ़ोत्तरी से कारपोरेट मुनाफ़ों में 2.5 फ़ीसदी की बढ़त हुई है। आज़ादी के बाद के छः दशकों का बैलेंसशीट यह है कि ऊपर के 22 एकाधिकारी पूँजीपति घरानों की परिसम्पत्ति में 500 गुने से भी अधिक का इज़ाफ़ा हुआ है। इन घरानों में वे बहुराष्ट्रीय निगम शामिल नहीं हैं जिनके शुद्ध मुनाफ़े में दोगुना-चौगुना नहीं बल्कि औसतन सैकड़ों गुना की वृद्धि हुई है।

— 18 वर्षों के नवउदारवादी दौर के बाद, इक्कीसवीं सदी के भारत की ख़ासियत यह है कि यह अरबपतियों की कुल दौलत के लिहाज़ से अमेरिका के बाद दुनिया में दूसरे नम्बर पर है, लेकिन बेघरों, कुपोषितों, भूखों और अनपढ़ों की तादाद के लिहाज़ से भी दुनिया में पहले नम्बर पर है। ऐश्वर्य-समृद्धि की चकाचौंध भरी दुनिया का दूसरा अन्धकारमय पहलू यह है कि (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार) देश की 18 करोड़ आबादी झुगियाँ में रहती है और 18 करोड़ आबादी फ़ुटपाथों पर सोती

है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के ही अनुसार, ग्रामीण भारत में प्रतिदिन औसत उपभोग मात्र 19 रुपये और शहरी भारत में 30 रुपये है। गाँवों की दस प्रतिशत आबादी 9 रुपये रोज़ पर गुज़ारा करती है। 'नेशनल कमीशन फॉर इण्टरप्राइजेज़ इन द अनऑर्गेनाइज़्ड सेक्टर' की एक रिपोर्ट के अनुसार, वर्ष 2004-05 में करीब 84 करोड़ लोग (यानी आबादी का 77 फ़ीसदी हिस्सा) रोज़ाना 20 रुपये से भी कम पर गुज़र कर रहे थे। इनमें से 22 फ़ीसदी लोग रोज़ाना 11.60 रुपये की आमदनी पर (यानी सरकारी 'ग़रीब रेखा' के नीचे), 19 फ़ीसदी लोग रोज़ाना 11.60 रुपये से 15 रुपये के बीच की आमदनी पर और 36 फ़ीसदी लोग रोज़ाना 15 से 20 रुपये के बीच की आमदनी पर गुज़ारा कर रहे थे।

— सालाना 8-9 प्रतिशत की दर से कुलाँचे मार रही अर्थव्यवस्था (हालाँकि वर्तमान विश्वव्यापी मन्दी के बाद सकल घरेलू उत्पाद की यह वार्षिक वृद्धि दर 6 प्रतिशत पर आ जायेगी, ऐसा अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का अनुमान है) वाला यह देश वर्ष 2007 में संयुक्त राष्ट्र मानव विकास सूचकांक के अनुसार, 124वें स्थान से नीचे खिसककर 127वें स्थान पर आ गया। भारत में औसत आयु चीन के मुक़ाबले 7 वर्ष और श्रीलंका के मुक़ाबले 11 वर्ष कम है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों की मृत्युदर चीन के मुक़ाबले तीन गुना, श्रीलंका के मुक़ाबले लगभग 6 गुना और यहाँ तक कि बांग्लादेश और नेपाल से भी ज़्यादा है। भारतीय बच्चों में से करीबन आधों का वज़न ज़रूरत से कम है और वे कुपोषण से ग्रस्त हैं। करीब 60 फ़ीसदी बच्चे खून की कमी से ग्रस्त हैं और 74 फ़ीसदी नवजातों में खून की कमी होती है। प्रतिदिन लगभग 9 हज़ार भारतीय बच्चे भूख, कुपोषण और कुपोषणजनित बीमारियों से मरते हैं। 5 साल से कम उम्र के बच्चों की मौत के 50 फ़ीसदी मामलों का कारण कुपोषण होता है। 5 वर्ष से कम आयु के 5 करोड़ भारतीय बच्चे गम्भीर कुपोषण के शिकार हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, 63 फ़ीसदी भारतीय बच्चे प्रायः भूखे सोते हैं और 60 फ़ीसदी कुपोषणग्रस्त होते हैं। 23 फ़ीसदी बच्चे जन्म से कमज़ोर और बीमार होते हैं। एक हज़ार नवजात

शिशुओं में से 60 एक वर्ष के भीतर मर जाते हैं। लगभग दस करोड़ बच्चे होटलों में प्लेटें धोने, मूँगफली बेचने आदि का काम करते हैं।

— अन्तरराष्ट्रीय खाद्यनीति शोध संस्थान की 2007 की रिपोर्ट के अनुसार भुखमरी की दृष्टि से दुनिया के 118 देशों में भारत का स्थान 94वाँ था, जबकि पाकिस्तान का 88वाँ और चीन का 47वाँ। अन्तरराष्ट्रीय खाद्यनीति शोध संस्थान और कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय द्वारा तैयार किये गये 'वैश्विक भूख सूचकांक' (ग्लोबल हंगर इण्डेक्स) 2008 के अनुसार, दुनिया के 88 देशों में भारत का 66वाँ स्थान है। अफ़्रीकी देशों और बांग्लादेश को छोड़कर भूखे लोगों के मामले में भारत सभी देशों से पीछे है। दुनिया में कुल 30 करोड़ लोग भुखमरी के शिकार हैं और 2015 तक भूख की समस्या मिटा देने के संयुक्त राष्ट्र संघ के आह्वान के बावजूद 2030 तक इनकी संख्या बढ़कर 80 करोड़ हो जाने का अनुमान है। इस आबादी का 25 प्रतिशत हिस्सा सिर्फ़ भारत में रहता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य व कृषि संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार, पूरी दुनिया में 85 करोड़ 50 लाख लोग भुखमरी, कुपोषण या अल्पपोषण के शिकार हैं। इनमें से लगभग 35 करोड़ आबादी भारतीय है। हर तीन में से एक (यानी लगभग 35 करोड़) भारतीयों को प्रायः भूखे पेट सोना पड़ता है। न तो पूरी दुनिया के स्तर पर और न ही भारत के स्तर पर इसका कारण खाद्यान्न की कमी नहीं, बल्कि बढ़ती महँगाई और आम लोगों की घटती वास्तविक आय है। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में 1991 में प्रति व्यक्ति औसत खाद्यान्न उपलब्धता 580 ग्राम थी जो 2007 में घटकर 445 ग्राम रह गयी। उल्लेखनीय है कि इस दौरान समाज के समृद्ध तबकों (उच्च मध्यवर्ग तक) ने खाने-पीने पर अपना खर्च काफ़ी बढ़ाया है। यानी औसत खाद्यान्न उपलब्धता में उपरोक्त अवधि में दर्शायी गयी कमी से भी अधिक कटौती ग़रीब के भोजन में हुई है। उसी रिपोर्ट के अनुसार, उदारीकरण के इन 18 वर्षों के दौरान समाज के ग़रीब हिस्से की प्रतिव्यक्ति कैलोरी खपत में भी काफ़ी कमी आयी है। जहाँ विकसित देशों के लोग औसतन अपनी कुल आमदनी का 10 से 20 फीसदी

भोजन पर खर्च करते हैं, वहीं भारत के लोग अपनी कुल कमाई का औसतन करीब 55 फ़ीसदी हिस्सा खाने पर खर्च करते हैं। लेकिन कम आय वर्ग के भारतीय नागरिक अपनी आमदनी का 70 प्रतिशत भाग भोजन पर खर्च करते हैं, और फिर भी उसे दो जून न तो भरपेट भोजन मिलता है, न ही पोषणयुक्त भोजन। औसतन एक आदमी को प्रतिदिन 50 ग्राम दाल चाहिए, लेकिन भारत की नीचे की 30 फ़ीसदी आबादी को औसतन 13 ग्राम ही नसीब हो पाता है। वर्ष 2006 से 2007 के बीच दाल की कीमतों में 110 प्रतिशत का इज़ाफ़ा हुआ। चन्द एक सीज़नल सब्ज़ियों को छोड़कर, हरी सब्ज़ी तो ग़रीब खा ही नहीं सकता। प्याज़, टमाटर और आलू तक ख़रीदना भी साल के अधिकांश हिस्से में उसके लिए मुश्किल होता है। आज से 50 वर्षों पहले 5 व्यक्तियों का परिवार एक साल में औसतन जितना अनाज खाता था, आज उससे 200 किलो कम खाता है।

— एक सरकारी आँकड़े के अनुसार, देश की 75 फ़ीसदी माँओं को पोषणयुक्त भोजन नहीं मिलता। विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनिसेफ, यू.एन.एफ़.पी.ए. और विश्व बैंक द्वारा तैयार की गयी 'मैटर्नल मॉर्टैलिटी रिपोर्ट' (2007) के अनुसार, पूरी दुनिया में गर्भावस्था या प्रसव के दौरान 5.36 लाख स्त्रियाँ मर जाती हैं। इनमें से 1.17 लाख मौतें सिर्फ़ भारत में होती हैं। भारत में प्रसव के दौरान 1 लाख में से 450 स्त्रियों की मौत हो जाती है। गर्भावस्था और प्रसव के दौरान मृत्यु के 47 फ़ीसदी मामलों में कारण खून की कमी और अत्यधिक रक्तस्राव होता है। रिपोर्ट के अनुसार, भारत सहित सभी विकासशील देशों में गर्भवती और सद्यः प्रसूता स्त्रियों के मामले में 99 फ़ीसदी मौतें ग़रीबी, भूख और बीमारी के चलते होती हैं। भारत के स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा 2007 में जारी रिपोर्ट 'एन.एफ़.एच.एस.-III' के अनुसार, ग़रीबी के कारण समुचित डॉक्टरी देखभाल का अभाव भारत में ऊँची मातृत्व-मृत्युदर का मुख्य कारण है। 2007 से पूर्व के आठ वर्षों के दौरान बच्चों को जन्म देने वाली 25 प्रतिशत स्त्रियों को प्रसव के पूर्व या उसके बाद डॉक्टरी देखभाल की कोई सुविधा नसीब नहीं हुई। उक्त रिपोर्ट के अनुसार भारत में अभी भी

60 प्रतिशत प्रसव घर में ही कराये जाते हैं, 37 प्रतिशत मामलों में परम्परागत दाइयाँ और 16 प्रतिशत मामलों में रिश्तेदार या अप्रशिक्षित लोग प्रसव के समय माँ की सहायता व देखभाल करते हैं।

— 1991 के पहले 4 फ़ीसदी से भी कम वार्षिक आर्थिक संवृद्धि के साथ रोज़गार में 2 फ़ीसदी की वृद्धि हुआ करती थी। 1991 के बाद के वर्षों में 6 से 9 फ़ीसदी के बीच वार्षिक आर्थिक संवृद्धि दर होने के बावजूद नियमित रोज़गार में वृद्धि की दर 1 फ़ीसदी सालाना से आगे नहीं जा सकी है। इसका मतलब यह है कि सकल घरेलू उत्पाद का क़रीब 7-8 फ़ीसदी रोज़गार में विस्तार का नहीं बल्कि प्रति व्यक्ति उत्पादन में बढ़ोत्तरी का नतीजा है। उत्पादन में यह ऊँची वृद्धि श्रम की उत्पादकता में वृद्धि से हुई है। 1991 के बाद संगठित सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार में लगातार गिरावट आयी है और संगठित निजी क्षेत्र इस गिरावट की भरपाई नहीं कर पाया है। कारपोरेट जगत में और संगठित उद्योगों में मशीनीकरण और रोज़ाना काम के घण्टे बढ़ाकर उत्पादकता में वृद्धि की जाती रही है। कारपोरेट घराने और संगठित उद्योग मशीनीकरण के साथ ही अनेक प्रत्यक्ष-परोक्ष तरीकों से छँटनी करके नियमित रोज़गार और संगठित मजदूर आबादी को कम करते रहे हैं। यह प्रक्रिया सार्वजनिक क्षेत्र में भी जारी रही है और जिन राजकीय उद्यमों को निजी घरानों या विदेशी कम्पनियों के हवाले किया गया है, उनमें पुराने नियमित मजदूरों-कर्मचारियों की बड़े पैमाने पर छँटनी की जाती रही है। इस तरह श्रम बाज़ार में श्रमशक्ति का मूल्य घटाकर (दिहाड़ी, ठेका और पीसरेट पर काम कराकर) पूँजीपति श्रम-उत्पादकता बढ़ाने के साथ ही नियमित रोज़गार और उत्पादन-व्यय में मजदूरी के हिस्से को लगातार घटाते रहे हैं।

— 'फ़ाइनेंशियल टाइम्स' (लन्दन) के अनुसार, टाटा घराने के जमशेदपुर इस्पात संयंत्र में 1991 में 85 हज़ार मजदूरों ने दस लाख टन इस्पात का उत्पादन किया जिसकी कीमत थी 8 लाख डॉलर। 2005 में यह उत्पादन बढ़कर 50 लाख टन हो गया जिसकी कीमत थी क़रीब 50 लाख डॉलर। लेकिन इसी अवधि में संयंत्र में रोज़गारशुदा कामगारों

की तादाद घटकर 44,000 रह गयी। यानी उत्पादन छः गुना बढ़ गया लेकिन रोज़गार घटकर आधा रह गया। यानी श्रम की उत्पादकता दस गुना से भी ज़्यादा बढ़ गयी। इसी तरह, पुणे में टाटा मोटर्स ने 1999 से 2004 के बीच मज़दूरों की संख्या 35,000 से घटाकर 21,000 कर दी, लेकिन वाहनों का उत्पादन 1,29,000 से बढ़ाकर 3,11,500 कर दिया। यानी श्रम की उत्पादकता 4 गुना बढ़ गयी। मॉर्गन स्टैनले के मुख्य अर्थशास्त्री स्टीफ़न रोश के अनुसार, 1995 के आसपास पुणे के बजाज मोटरसाइकिल कारख़ाने में 24,000 कामगार 10 लाख दोपहिया वाहनों का उत्पादन करते थे, जबकि 2004 में इसी कारख़ाने में सिर्फ़ 10,500 कामगारों ने 24 लाख दोपहिया वाहनों का उत्पादन किया। यानी श्रम-उत्पादकता में 6 गुने से भी ज़्यादा बढ़ोत्तरी हो गयी। यह स्थिति केवल ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री की ही नहीं बल्कि निजी कारपोरेट क्षेत्र के लगभग सभी उद्योगों की है।

— ऑटोमोबाइल, इलेक्ट्रिक गुड्स, इलेक्ट्रॉनिक गुड्स, कम्प्यूटर, सिलेसिलाये वस्त्र, चमड़े के सामान, पेण्ट, रसायन — इन सभी उद्योगों में हावी कारपोरेट घराने आज ज़्यादा काम ठेके पर असंगठित क्षेत्र से कराते हैं। या तो वे ठेकेदारों के ज़रिये सीधे ठेके पर दिहाड़ी मज़दूर रख लेते हैं, या फिर कुछ काम कुछ छोटे-छोटे वर्कशॉप-मालिकों और छोटे कारख़ानेदारों को दे देते हैं जो दिहाड़ी पर मज़दूर रखकर 60-70 रुपये की दिहाड़ी पर दस घण्टे तक काम लेते हैं और ज़रूरत पड़ने पर सिंगल रेट पर पाँच-छः घण्टे ओवरटाइम भी कराते हैं। कुल औद्योगिक श्रमशक्ति का लगभग 90 प्रतिशत हिस्सा ऐसे ही असंगठित मज़दूरों का है। इन असंगठित मज़दूरों के लिए न तो कोई कारगर श्रम क़ानून है, न ही सामाजिक सुरक्षा की कोई व्यवस्था है। संगठित क्षेत्र द्वारा उत्पादक कार्रवाइयों का बढ़े से बड़ा हिस्सा असंगठित क्षेत्र में करवाना और नियमित रोज़गार के बजाय बड़े पैमाने पर दिहाड़ी मज़दूरों से काम करवाना भूमण्डलीकरण के दौर की सार्वभौम परिघटना है जो विगत 18 वर्षों से भारतीय उद्योगों की भी अभिलाक्षणिकता बन चुकी है। वेतन में बिना किसी बढ़ोत्तरी के काम के घण्टे बढ़ाने का यह सर्वाधिक प्रचलित

उपाय बन चुका है। संगठित क्षेत्र में नियमित रोज़गार के अभाव ने स्वरोज़गार में लगे कामगारों की तादाद में भारी वृद्धि की है। एक ओर जहाँ करघा उद्योग आदि परम्परागत पेशों में लगे स्वरोज़गारी कामगार उजड़ते जा रहे हैं, वहीं पीसरेट पर किसी बड़े उद्योग या रिटेल चेन से काम लेकर घर पर ही छोटी-मोटी मशीन लगाकर या वर्कशॉप बैठाकर पूरे परिवार को लगाकर काम करने वाले कामगारों की संख्या तेज़ी से बढ़ी है। इस समय ऐसे स्वरोज़गारी कामगारों की संख्या 26 करोड़ है। अर्थशास्त्री सी. रंगराजन के अनुसार, ऐसे कामगारों के बढ़े हिस्से ने थोड़ी सी अतिरिक्त आय के लिए घण्टों अतिरिक्त मेहनत करके उत्पादकता और कारपोरेट मुनाफ़े में भारी वृद्धि की है और बदले में उन्हें नारकीय बदहाली के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिला है। विगत 18 वर्षों में उत्पादन-व्यय में मज़दूरी-वेतन का हिस्सा लगातार घटता चला गया है। एक अध्ययन के अनुसार, देश के सौ बड़े उद्योगों में 1990-91 में उत्पादन-व्यय में मज़दूरी का हिस्सा 11 प्रतिशत था, जो 2000-01 तक घटकर मात्र 5.56 प्रतिशत रह गया था।

— अब आइये, धनी-ग़रीब के बीच की बढ़ती खाई की बात कर ली जाये। ‘मॉर्गन स्टैनले’ के कार्यकारी निदेशक चेतन आहया ने 9 जुलाई 2007 को ‘इकोनॉमिक टाइम्स’ में लिखा था कि “पिछले चार साल के दौरान भारत में एक खरब डॉलर से ज़्यादा की दौलत बढ़ी है, यानी भारत के सकल घरेलू उत्पाद के सौ फ़ीसदी से भी ज़्यादा और इसका बहुत बड़ा हिस्सा आबादी के बहुत ही छोटे हिस्से के हाथों में गया है।” आहया के अनुसार, “पिछले कुछ सालों में भूमण्डलीकरण और पूँजीवाद के उभार की वजह से ग़ैरबराबरी का फ़ासला चौड़ा ही होता चला गया है... ग़ैरबराबरी बढ़ने की वजह से सामाजिक और राजनीतिक भूचाल आ सकता है।” एक अन्य अध्ययन के अनुसार, देश की ऊपर की दस फ़ीसदी आबादी के पास कुल परिसम्पत्ति का 85 प्रतिशत इकट्ठा हो गया है जबकि नीचे की 60 प्रतिशत आबादी के पास मात्र दो प्रतिशत है। देश में 0.01 प्रतिशत ऐसे हैं जिनकी आमदनी पूरे देश की औसत आमदनी से दो सौ गुना अधिक हो चुकी है। देश की ऊपर की तीन

फ़ीसदी और नीचे की 40 फ़ीसदी आबादी की आमदनी के बीच का अन्तर आज साठ गुना हो चुका है। आयकर रिटर्नों के अध्ययन पर आधारित अपने शोधपत्र में अभिजीत बनर्जी और थॉमस पिकेरी ने बताया है कि भारत के सबसे अमीर 0.01 प्रतिशत लोगों की आमदनी पूरी आमदनी से 150 से 200 गुना ज़्यादा थी। 1980 के दशक के शुरू में यह घटकर 50 गुना से कम रह गयी थी। 1990 के दशक के अन्त तक यह फिर से बढ़कर 150 से 200 गुना ज़्यादा हो गयी। बनर्जी और पिकेरी के अनुसार, 1980 और 1990 के दशकों के दौरान कुल आबादी के ऊपरी एक फ़ीसदी हिस्से ने देश की कुल आमदनी में अपना हिस्सा बहुत अधिक बढ़ा लिया। 1980 के दशक में जहाँ इस पूरी 1 फ़ीसदी आबादी में से हर किसी को लाभ हुआ था, वहीं 1990 के दशक में सबसे ऊपर के 0.1 फ़ीसदी (यानी करीब 11 लाख) लोगों ने ही ज़्यादा लाभ बटोरा।

— देश की लगभग एक अरब दस करोड़ आबादी में से, अलग-अलग अध्ययनों के अनुसार, शासक वर्ग और उनसे नाभिनालबद्ध उच्च मध्यवर्ग से लेकर खुशहाल, मध्यम मध्य वर्ग तक की कुल आबादी, ज़्यादा से ज़्यादा, 15 से 20 करोड़ के बीच है। इनमें पूँजीपतियों, व्यापारियों, ठेकेदारों, शेयर दलालों, कमीशन एजेंटों, कारपोरेट प्रबन्धकों, सरकारी नौकरशाहों, नेताओं, डॉक्टरों, इंजीनियरों, उच्च वेतनभोगी प्रोफ़ेसरों, मीडियाकर्मियों के ऊपरी संस्तर, अच्छी प्रैक्टिस वाले वकीलों को गिना जा सकता है। गैरक़ानूनी आय और काले धन की समान्तर अर्थव्यवस्था से जुड़ी आबादी भी इनमें शामिल है। दस लाख लोग ऐसे हैं जिनकी मासिक आय 50 लाख रुपये या उससे ऊपर है। इस छोटी सी आबादी के लिए तमाम शॉपिंग मॉल्स, मल्टीप्लेक्स, बार-रेस्टोरेण्ट-होटल-रेसॉर्ट्स हैं, करोड़ों की कारों से लेकर 5-10 लाख की कारों और दोपहिया वाहनों के पचासों ब्राण्ड्स और मॉडल हैं, इसी उपभोक्ता समुदाय पर विज्ञापन बाज़ार के 95 प्रतिशत की निगाह है, इसी के बूते शेयर बाज़ार और मनोरंजन उद्योग का कारोबार चलता है, इसी के लिए खाने-पीने-पहनने-ओढ़ने की महँगी चीज़ों के सैकड़ों विकल्प

हैं और यहाँ तक कि 30 लाख रुपये कीमत का सूट लेंगथ भी है। शेष करीब 85 फ़ीसदी आबादी इस आबादी की ज़रूरतें पैदा करने के लिए, प्रायः, ज़िन्दा रहने की न्यूनतम शर्तों पर, समृद्धि के तलघर के अँधेरे में ज़िन्दगी बसर करती है। पूँजीवाद का जो नंगा तर्क उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में सामने आया था, वह “कल्याणकारी राज्य” के आवरण के तार-तार होने के साथ ही पूरी दुनिया में नंगा हो गया है। भारत में भी ऐसा ही हुआ है।

— नवउदारवादी नीतियों को लागू करते हुए उच्च वृद्धि दर हासिल करने वाले देशों में, विगत डेढ़ दशक के दौरान चीन और भारत का नाम दुनिया में सबसे ऊपर रहा है। इस तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि इन दोनों देशों में ऊँची आर्थिक संवृद्धि के साथ ग़रीबी का दायरा भी विस्तारित हुआ है और उसकी विकटता भी बढ़ी है। इन देशों की एक तिहाई से एक चौथाई के बीच आबादी अमानवीय और निपट ग़रीबी में ज़िन्दगी बसर कर रही है। भारत में निपट ग़रीबी से ग्रस्त आबादी गत दो दशकों के दौरान बेहद धीमी रफ़्तार से थोड़ी कम हुई है, पर अभी भी 30.3 करोड़ लोग घनघोर बदहाली का जीवन बिताते हैं। चीन में स्थिति थोड़ी बेहतर है। वहाँ निपट ग़रीबी से ग्रस्त आबादी 33 फ़ीसदी से घटकर 8 फ़ीसदी रह गयी है। यानी चीन में आबादी में ग़रीबों के अनुपात में करीब 45 फ़ीसदी बिन्दुओं की गिरावट आयी, जबकि भारत में ग़रीबों के अनुपात में 17 फ़ीसदी बिन्दुओं की ही गिरावट दर्ज हुई। लेकिन भारत की तुलना में अधिक तेज़ गति से आर्थिक संवृद्धि हासिल करने वाले चीन में ग़ैरबराबरी, यानी तुलनात्मक ग़रीबी भी भारत की अपेक्षा अधिक तेज़ रफ़्तार से बढ़ी है। कुछ अध्ययनों के अनुसार, चीन में (और पूर्व सोवियत संघ के घटक देशों में भी) अमीरों और ग़रीबों के बीच की खाई जिस रफ़्तार से बढ़ी है, वैसी लिखित आर्थिक इतिहास के किसी काल में शायद ही देखने को मिलती है। चीन की राष्ट्रीय आमदनी में आबादी के सबसे ग़रीब 20 फ़ीसदी लोगों का हिस्सा 5.9 फ़ीसदी है, जबकि भारत में 8.2 फ़ीसदी। यानी चीन और भारत में आमदनी के लिहाज़ से सबसे नीचे के 20 फ़ीसदी लोगों को अपने-अपने

देशों की प्रति व्यक्ति औसत आमदनी का करीबन 30 और 40 फीसदी हिस्सा ही मिलता है। लेकिन चीन की प्रति व्यक्ति औसत आमदनी भारत की तुलना में दोगुनी से भी ज़्यादा है। यानी भारत की निर्धनतम 20 फीसदी आबादी चीन से सापेक्ष अर्थों में बेहतर स्थिति में है, लेकिन निरपेक्ष अर्थों में, यानी आमदनी की रकम के लिहाज़ से बदतर स्थिति में है। यह तो तुलनात्मक अध्ययन की बात हुई, लेकिन वैश्विक परिप्रेक्ष्य में यदि बात करें तो आर्थिक सुधारों के लगभग दो दशकों के दौरान धनी-ग़रीब के बीच की खाई भारत और चीन में जिस रफ़्तार से बढ़ी है, वह अभूतपूर्व है और अतुलनीय है।

तब फिर मनमोहन-चिदम्बरम-मोण्टेक क्या कहेंगे अपने अठारह वर्ष पुराने उस दावे ('ट्रिकल डाउन थ्योरी') के बारे में कि जब समाज के शिखरों पर समृद्धि आयेगी तो वह नीचे तक पहुँच जायेगी। अब तक तो नतीजों की दिशा इन दावों के एकदम उल्टी ही दिखायी देती है। आँकड़े बोल रहे हैं, तथ्य आईना दिखा रहे हैं, सच्चाइयाँ चीख रही हैं। पर बेशर्माँ का क्या? वे तो दावे करते ही रहेंगे, क्योंकि वे पूँजीपतियों के प्रबन्धक हैं। उनका यही काम है।

जॉन केनेथ गालब्रेथ कोई समाजवादी नहीं था। वह एक बुर्जुआ अर्थशास्त्री ही था। उसने भी 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' का मज़ाक़ उड़ाते हुए कहा था, घोड़े को चाहे कुछ भी खिलाओ, पीछे से वह लीद ही निकालेगा। 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' की आड़ में पूँजीपतियों को चाहे जितनी भी छूटें दी जायें और मुनाफ़ा कूटने का अवसर दिया जाये, वे मज़दूरों को उतना ही देंगे ताकि वे उनके कारख़ानों में हड्डियाँ गला सकें और हड्डियाँ गलाने वाले मज़दूरों की नयी पीढ़ी पैदा कर सकें। पूँजीवाद का बुनियादी तर्क ही ऐसा है कि वह धनी ग़रीब के बीच के अन्तर को बढ़ाता है, क्षेत्रीय असमानता बढ़ाता है, कृषि और उद्योग के बीच का अन्तर बढ़ाता है और गाँव और शहर के बीच का अन्तर बढ़ाता है। कीन्सियाई नुस्खों का दौर समाप्त होने और सभी सार्वजनिक कामों से राज्य के किनारा कर लेने के बाद जीवन का हर क्षेत्र जब पूँजी लगाकर लाभ कमाने के लिए खुल गया तो धनी-ग़रीब के बीच के ध्रुवीकरण को

और अधिक तेज़ गति से बढ़ना ही था।

पूँजीवाद के अन्तर्गत सामाजिक शिखरों पर जो समृद्धि आती है और जो पूँजी का अम्बार इकट्ठा होता है, वह नीचे के मेहनतकशों के अतिरिक्त श्रम को निचोड़कर ही इकट्ठा होता है। यानी नीचे के संस्तरों को निचोड़कर, कंगाल बनाकर ऊपर के शिखरों पर समृद्धि आती है। 'ट्रिकन डाउन थ्योरी' इस सच्चाई को एकदम उलटकर पेश करती है। क्लासिकी बुर्जुआ अर्थशास्त्र के विपरीत, यह सच्चाई को अपने वर्गीय कोण से प्रस्तुत करने के बजाय उसे एकदम उलट देती है, क्योंकि आज पूँजीवाद इसी झूठ के सहारे अपने को सही ठहरा सकता है।

यह दो कौड़ी का बाज़ारू आर्थिक सिद्धान्त (जिसके समर्थक मनमोहन सिंह को हमारे देश में एक बड़ा अर्थशास्त्री माना जाता है) शिकागो स्कूल के कुछ भाड़े के टट्टू अर्थशास्त्रियों द्वारा गढ़ा गया था, इनमें जेबी से नाम का अर्थशास्त्री प्रमुख था जिसकी दो प्रमुख स्थापनाएँ थीं। पहली यह कि, माल की आपूर्ति स्वयं अपनी माँग पैदा करती है (इस स्थापना को अमेरिका के सबप्राइम संकट और मौजूदा विश्वव्यापी मन्दी ने सिर से गलत सिद्ध कर दिया है), और दूसरी यह कि अमीरों को छूट व सुविधाएँ देने पर इनका लाभ रिस-रिसकर गरीबों तक जा पहुँचता है। नवउदारवाद के दो दशकों के नतीजे इस स्थापना को भी गलत सिद्ध करते हैं। हेनरी लियू एक बुर्जुआ अर्थशास्त्री ही हैं, पर उन्होंने भी 'एशिया टाइम्स' में लिखा है : "हरेक जगह बाज़ार कट्टरता के ढहने से अब शिकागो स्कूल का सिद्धान्त कटघरे में खड़ा हो गया है। इसके बड़े झूठ तथ्यों द्वारा दो स्तरों पर बेनकाब हुए हैं। शिकागो स्कूल के अनुयाइयों का यह कथन कि अमीरों की मदद से गरीबों का भला होगा, न केवल बेनकाब हो गया है, बल्कि यह भी साफ़ हो गया है कि बाज़ार कट्टरता न केवल गरीबों और कमजोरों को बरबाद करती है, बल्कि दूसरे प्रकार से यह अमीरों को भी नहीं छोड़ती। मुद्रास्फीति से लड़ने के लिए मज़दूरी को कम रखा जाता है। यह अधिक मुनाफ़े के ज़रिये अधिक निवेश और फिर अतिउत्पादन का संकट पैदा करती है। कम मज़दूरी के चलते बाज़ार में माँग खत्म हो जाती है।"

पूँजीवाद का असाध्य ढाँचागत संकट मनमोहन-मोण्टेक-चिदम्बरम को आर्थिक मसलों पर भी इस गोयबल्स फ़ार्मूले को लागू करने के लिए बाध्य कर रहा है कि एक झूठ को सौ बार बोलने पर वह सच हो जाता है। अभी भी यह तिकड़ी 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' का हवाला देने से बाज नहीं आती। पर 'शिकागो स्कूल' से आयातित आर्थिक सिद्धान्त के इस घटिया माल का ख़रीदार मिलना मुश्किल है, क्योंकि अठारह वर्षों के अनुभव ने नवउदारवादी पूँजीवादी नीतियों को एकदम नंगा कर दिया है। और अब वर्तमान विश्वव्यापी मन्दी का जारी सिलसिला जो नतीजे सामने लाने वाला है, उससे रही-सही कोर-कसर भी पूरी हो जायेगी।





राहुल फ़ाउण्डेशन
मूल्य : तीन रुपये